



कभी-कभार

अशोक वाजपेयी

जो हो रहा है

किसी भी समय जो हो रहा होता है उसे उसकी पूरी जटिलता-बहुलता में महसूस या दर्ज कर पाना लगभग असंभव होता है। संसार और सच्चाई, हमारे सौभाग्य से, विराट है और मुश्किल से हमारी पकड़ में आ पाते हैं। हमारे हिस्से कुछ हिस्से ही आते हैं और उनके बारे में यह संदेह बराबर बना रहता है कि वे कितना सच हैं और कितना निरा, निजी या सामाजिक आभास! अगर यह व्याख्या सही है तो फिर किसी विचार या अनुशासन या दृष्टि का यह दावा बिल्कुल बेकार हो जाता है कि सच या सच्चाई या उसको समझने और स्वायत्त करने की क्षमता या जिम्मेदारी उसके पास है। लेकिन ऐसा दावा करने वालों की कोई कमी कभी नहीं रही है: आज उनकी संख्या कुछ अधिक ही हो गई लगती है, क्योंकि उनके ऐसे दावे तेजी से फैलते हैं।

साहित्य की एक दुविधा यह होती है कि उसे जब-तब लगता है कि सच या सच्चाई उसकी पकड़ या पहुंच में आ गया या रहा है और तभी अदम्य रूप से संशयात्मा होने के कारण उसे यह संदेह भी होता है कि जाने वह सच या सच्चाई है भी कि नहीं! इन दिनों जब बहुत चिकने-चुपड़े और सत्ता, धन और खून पीए नेता भारत का भविष्य बदलने या उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन करने का हौसला और कूवत रखने का दावा बढ़-चढ़ कर करते हैं, तब लगता है कि इस अकारण और प्रायः अनर्जित गर्व से भरी तामझाम में साहित्य किसी कोने में दुबका बैठा है। दुबका इसलिए नहीं कि वह भयभीत है, बल्कि इसलिए कि उसे अपनी सच्चाई की टिमटिमाती लौ को बचाना है: वह न तो इन गर्वीलों की जमात के साथ हो सकता है और न ही बहुत चीख-पुकार कर अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने की कोई कोशिश कर सकता है। ऐसे समय में उसका काम है देखना, खुली आंखों, लेकिन सजग अंतःकरण से देखना: यह भी देखना कि कितने बड़े झूठ लोगों को लुभा सकते हैं और कैसे असली सच्चाई के बारम्स हमारे समय और समाज में झूठी, पर चकाचौंध करने वाली सच्चाई रची-पोसी जा सकती है। सत्ताओं ने इतिहास में कई बार असली सच्चाई के समांतर झूठी सच्चाई रचने और बढ़ाने के जतन किए हैं: लोगों को यह याद न हो, पर साहित्य को याद है। साहित्य का काम ऐसी ऐतिहासिक स्मृति को उद्दीप्त किए बिना चलता नहीं।

थोड़ा-सा ठिठक कर सोचें तो साफ समझिए होगा कि सच्चाई, सच, अंतःकरण, स्मृति आदि शब्द हमारे समय के लगते ही नहीं हैं। इनका साहित्य में तो प्रसंग और अर्थ है, पर हमारे सार्वजनिक जीवन और संवाद से वे गायब हो चुके हैं। यह कहा जा सकता है कि इन अभिप्रायों से अब भी प्रेरित साहित्य अब एक पिछड़ा अनुशासन है: समाज और राजनीति उससे कहीं आगे निकल गए हैं। लेखक कभी अग्रगामी रहे होंगे, अब वे पश्चात्पद हैं। पर यह पिछड़ जाना ही आज साहित्य को उसकी अर्थवत्ता और मानवीयता देता है। साहित्य आज पिछड़ कर ही अपनी सच्ची और मानवीय भूमिका निभा सकता है। जो हो रहा है उसमें बहुत सारा ऐसा है, जो नहीं होना चाहिए और यह कह सकने का जिम्मा अब साहित्य का ही है!

राष्ट्रपति और कलाकार

यों तो आज तक कोई कलाकार भारत का राष्ट्रपति नहीं हुआ। एकाध दार्शनिक या चिंतक राष्ट्रपति हुए हैं, सो वे भी इसलिए कि उनका राजनीति से गहरा संबंध था। ऐसे भी एकाध हुए हैं, जिनका राजनीति में भी कुछ विशेष स्थान या कद नहीं था। भारत रत्न संगीतकारों, फिल्मकार, खिलाड़ी तक को मिला है, पर इस विभूषण के योग्य आज तक कोई साहित्यकार, कलाकार, रंगकर्मी आदि नहीं पाया गया! यह सब किसी वस्तुनिष्ठ आकलन के आधार पर हुआ है या कि उच्चतम स्तरों पर भी हमारे यहां तंगनजरी है, कहना मुश्किल है।

पिछली 25 फरवरी को राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने चित्रकार सैयद हैदर रज़ा को पत्र लिख कर जब बधाई और शुभकामना भेजी तो यह बहुत सुखद अपवाद है। सही है कि राष्ट्रपति के पास बहुत काम होता है और उन्हें यह याद रखने की फुरसत भी नहीं होती कि किसकी वर्षगांठ कब पड़ रही है। जहां तक हमारी जानकारी है ऐसा पहली बार हुआ है कि

भारत के एक मूर्धन्य कलाकार को राष्ट्रपति ने ऐसे याद किया है।

श्री मुखर्जी ने लिखा है: "बंबई प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स ग्रुप के एक संस्थापक के रूप में, उत्तर औपनिवेशिक युग में आप भारतीय कला का मुहावरा बदलने के लिए जिम्मेदार रहे हैं। आपके आंतरिक अनुभवों की छाया में 'बिंदु' अथवा 'प्रकृति-पुरुष' जैसे अमूर्तन रूपाकारों ने जन्म लिया है, जो भारतीय दार्शनिक अवधारणाओं पर आधारित हैं और जो स्वयं में प्रतीक ही बन गए हैं। इन नए विचारों ने भारतीय कला-दृश्य को कई ग्रंथियों से मुक्त किया है और भारतीय कला पर अंतरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य को बदला है। पद्मश्री, ललित कला अकादेमी फेलोशिप, पद्मभूषण, पद्मविभूषण और इन सबसे पहले 1956 में फ्रांस के प्री दे ला क्रीतीक से (जिसे पाने वाले आप पहले गैरफ्रेंच कलाकार थे) अलंकृत आपका जीवन और उपलब्धियां भारत और संसार के कलाकारों के लिए प्रेरणा का एक बड़ा स्रोत रही हैं।" राष्ट्रपति ने अपने पत्र के अंत में रज़ा को ईश्वर अच्छा स्वास्थ्य, सुख और कला के क्षेत्र में और कई वर्ष सेवा के लिए दे ऐसी प्रार्थना की है।

जाहिर है कि हमारे राष्ट्रपति बरसों राजनीति में कुशलता और सफलता से रसे-बसे होने के बावजूद इस सच्चाई से बाखबर हैं कि भारत में मानवीय प्रयत्न के जो अन्यान्य क्षेत्र हैं उनकी सक्रियता और उपलब्धि का भी एहतराम होना चाहिए। भारत को रचने-गढ़ने, आगे ले जाने और उसकी सभ्यता-उपक्रम को पहचान देने का काम शायद राजनीति से अधिक संस्कृति, विज्ञान, साहित्य, कलाओं आदि में होता है। यह सर्वथा उचित है कि बीच-बीच में सत्ता के शिखर से ऐसे संकेत हमारे समूचे और विविध देश को मिलते रहें कि उसे इन सबकी खबर है। वे निरी शोभा नहीं, हमारा जीवन-सत्य हैं।

चुप्पी के आशय

यों तो अब हर समय, पर कम से कम इस समय तो कुछ ज्यादा ही, पूरे दृश्य पर राजनीति छाई हुई है। रोज-रोज कोई न कोई अनैति राजनीति में दाखिल होती है: राजनेता पाला बदल रहे हैं, तरह-तरह के अवसरवादी या अवसर के अनुकूल गठबंधन हो रहे हैं, कुछ टूट भी रहे हैं। भयानक भ्रष्टाचारी क्रांति से कम नाष्टे में भी न भकोसने वाले दलों के साथ बिना किसी परस्पर शर्म के गठजोड़ कर रहे हैं। हमारे समय का सबसे बड़ा हत्यारा देश को उबारने के लिए रोज दहाड़ रहा है। हिंसा, अभ्रमदा, गालीगलौज, लांछन-आरोप आदि की निचले स्तर की भाषा में सार्वजनिक संवाद चल रहा है। विवेक, संयम, अंतःकरण आदि शब्द और अवधारणाएं सारे राजनीतिक संवाद से बाहर धकेल दिए गए हैं।

ऐसे अवसर पर क्या हमारी कोई भूमिका या जिम्मेदारी है? हमारी यानी लेखकों-कलाकारों-बुद्धिजीवियों आदि की? हम इस कदर चुप क्यों हैं? शायद इसलिए कि सयानी सीख यही है कि जब तुम्हारी आवाज को कोई सुनने को तैयार नहीं है तो ऐसी आवाज उठाने का क्या फायदा! पर सयानी सीख तो यह भी रही है कि कोई सुने न सुने, हमें अपनी आवाज उठानी चाहिए, भले निराशा के कर्तव्य की तरह! क्या हम अपनी अप्रासंगिकता को चुपचाप स्वीकार कर चुप हैं? अब जब विकराल यथार्थ हमारे सामने है, हम अपनी अकिंचनता और व्यर्थता स्वीकार करने की ओर चुप रह कर बढ़ रहे हैं? दशकों से हस्तक्षेप के मुहावरे में सोचने वाले इस समय हस्तक्षेप से क्यों गुरेज कर रहे हैं? जाति, धर्म आदि को लेकर इतना विद्वेष फैलाया-बढ़ाया जा रहा है और हमें उस बारे में कुछ नहीं कहना है?

भारत तेजी से बदल रहा है: इस मुकाम पर जब उसे अनेक अवांछित दिशाओं में मोड़ने का विराट अभियान चल रहा है, हमें युवाओं से कुछ नहीं कहना है? हम उनके ध्यान से बाहर क्यों हैं? या कि हम कुछ चालाकी, कुछ चतुराई और कुछ कायरता से काम ले रहे हैं! हम आश्वस्त होते जा रहे हैं कि जो होना है वह तो होकर रहेगा, हम काहे को झगड़े में पड़ कर बैर मोल लें: जब हो जाएगा तो उससे निपटने की तरकीब खोज लेंगे! हाल ही में एक विचित्र तर्क सुनने में आया: जब राजनीति हमारी परवाह नहीं करती तो हम क्यों उसकी परवाह करें?

ऊपर जो आत्मालोचक प्रश्न हैं उनका एक उत्तर सूझता है कि वे सब लेखक और कलाकार जो भारत की समावेशिता, सर्वधर्मसमभाव, समता और स्वतंत्रता, विकेंद्रित विकास प्रक्रिया, प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा, परंपराओं और भाषाओं की बहुलता, मौलिक और सर्जनात्मक परिवर्तन की आकांक्षा, पिछड़े वर्गों को समान अवसर, शिक्षा-सृजन-विज्ञान आदि में मौलिकता आदि में विश्वास करते हैं, वे इस समय मुखर-सक्रिय और संगठित हों। अन्यथा हमारी चुप्पी और निष्क्रियता हमें कायर और अवसरवादी साबित करेगी और हमारे पास अपना कोई नैतिक बचाव नहीं होगा।

ashok_vajpeyi@yahoo.com